टिप्पणियां

1. नेपाल में संविधान सभा चुनाव

नेपाल में मई 2012 में संविधान सभा भंग होने के करीब डेढ़ साल बाद 19 नवंबर को नयी संविधान सभा के चुनाव हुए। इन चुनावों में नेपाली कांग्रेस और नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (एकीकृत मार्क्सवादी-लेनिनवादी) प्रमुख शक्ति के रूप में उभरी जबकि नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) तथा मधेसी पार्टियां काफी पीछे चली गयीं। नेपाली कांग्रेस और एमाले मिल-जुलकर दो तिहाई बहुमत के काफी करीब बैठती हैं तो वे कुछ छोटी-छोटी पार्टियों को साथ लेकर अपने मन मुताबिक संविधान बना सकती हैं।

माओवादी पार्टी ने इन चुनावों में अपनी हार का कारण बड़े पैमाने का षड्यंत्र बताया है। इसमें कुछ सच्चाई हो सकती है पर तब भी यह स्पष्ट है कि उसकी हार का प्रमुख कारण पार्टी का विभाजन तथा पिछले पांच सालों में जनता का इससे मोहभंग होना है।

माओवादी पार्टी से टूट कर अलग हुयी नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी-माओवादी ने इन चुनावों के बहिष्कार का नारा दिया था। चुनावों में वोट प्रतिशत (करीब 60 प्रतिशत से बढ़कर 74 प्रतिशत) इस बहिष्कार की कारगरता का कोई परिचय नहीं देते। अब यह पार्टी किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में है।

जब पिछली संविधान सभा में माओवादी पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी (करीब 40 प्रतिशत सीटें) तब उसके पास बनाये जाने वाले संविधान को जन पक्षधर दिशा में धकेलने की काफी ताकत थी। न केवल संविधान सभा में वीटो वाले मत प्रतिशत थे बल्कि उसकी करीब सत्रह हजार की सेना बैरकों में सरकारी खर्च पर बैठी थी। गाँवों में जन युद्ध के दौरान नेपाली कांग्रेस, एमाले के समर्थकों समेत सामंती तत्वों की जमीनों पर लड़ाकों का कब्जा था। माओवादी तब एक समान्तर ताकत थे।

लेकिन पूंजीवादी शक्तियों से लगातार समझौता करते हुए माओवादी पार्टी ने एक-एक कर सारी ताकत खो दी। पूंजीवादी पार्टियां (साम्राज्यवादियों और भारतीय पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर) लगातार दबाव बनाती गयीं और ये लगातार पीछे हटते गये इस उम्मीद में कि एक बार संविधान बन जाने के बाद इनके उसके जरिये बढ़ने का रास्ता खुल जायेगा। इस बीच इनके नेता और कार्यकर्ता वर्तमान व्यवस्था में समाहित होकर रूढ़ और भ्रष्ट होते गये तथा जनता जन युद्ध के उथल-पुथल के दिनों से अधिकाधिक दूर होती चली गयी।

इन सबका सम्मिलित परिणाम इन चुनावों के परिणामों ने दिखाया। इन्होंने दिखाया कि जन युद्ध के दिनों में बेहद साख खो चुकी दोनों पार्टियां अब पुरानी प्रमुखता की स्थिति पाने में कामयाब हो चुकी हैं। इसके ठीक विपरीत माओवादी पार्टी दूसरे स्तर पर जा चुकी है।

नेपाल की राजनीति में इस नतीजे का आशय स्पष्ट है। जब पिछली संविधान सभा में अपनी पतली हालत के बावजूद नेपाली कांग्रेस और एमाले एक जनपक्षधर संविधान न बनने देने में कामयाब रहीं तो अपनी प्रमुखता की स्थिति में तो वे जरा भी यह नहीं होने देंगी। अब नेपाल पूंजीवादी जनतंत्र तक सीमित हो जायेगा। संविधान बनने में चाहे एक साल लगे या दो साल, उसके चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं होगा। पिछले सात साल से चली आ रही व्यवस्था ही अब स्थाई हो जायेगी। हां, राजतंत्र समर्थक पार्टियों के इन चुनावों में बेहतर प्रदर्शन के बावजूद नेपाल के किसी किस्म की राजशाही की ओर लौटने की संभावना नहीं है।

जब मई 2012 में पिछली संविधान सभा भंग हुयी थी तब नेपाल में काफी उथल-पुथल भरी राजनीतिक सरगर्मी थी। उसका तात्कालिक कारण नेपाल के संघीय ढांचे का सवाल था। अंततः यही सवाल संविधान निर्माण में अंतिम अवरोधक साबित हुआ। जहां माओवादी और मधेसी पार्टियां पहचान आधारित संघीय ढांचे की पक्षधर थीं वहीं नेपाली कांग्रेस और एमाले एक अपेक्षाकृत केन्द्रीयकृत ढांचे की। उस समय इस सवाल पर नेपाली कांग्रेस और एमाले में फूटें भी हुयीं।

लेकिन अब वह माहौल ठंडा पड़ चुका है। जनजातीय पहचान के आंदोलन की सरगर्मी अब नहीं है। नेपाल अपेक्षाकृत शांत है। ऐसे में नेपाली कांग्रेस और एमाले की जीत यथास्थिति को और पुख्ता कर देगी। अब मामले को और खराब होने से बचाने का केवल एक ही तरीका है-सड़क पर तीखा संघर्ष। संविधान सभा के बाहर चलने वाला तीखा संघर्ष ही संविधान सभा को और पीछे लौटने से रोक सकता है। इसके लिए दोनों माओवादी पार्टियों और मधेसी पार्टियों की कार्यनीतिक एकता जरूरी होगी।

अब जबकि नेपाल पूंजीवादी जनतंत्र तक सिमट गया है तब 1996 से जारी क्रांति के आगे बढ़ने का सवाल बेमानी हो गया है। वह क्रांति भी अब सिमट चुकी है। उसने नेपाल में सामंती राजशाही को समाप्त कर पूंजीवादी जनतंत्र कायम करने के महती कार्यभार को अंजाम दिया। लेकिन वह नवजनवादी राज्य कायम करने के अपने घोषित लक्ष्य तक आगे नहीं बढ़ सकी (जो नेपाल में अंततः समाजवाद कायम करने तक जाती)।

अब नेपाल में कोई क्रांति नये सिरे से ही शुरू होगी। वह समाजवादी समाज कायम करने के लक्ष्य से पूंजीवाद विरोधी क्रांति होगी। वही क्रांति अब नेपाल के बचे-खुचे जनवादी कार्यभारों को पूरा करेगी (खासकर राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभारों को)। इस पूंजीवाद विरोधी क्रांति को नये सिरे से संगठित करना होगा।

लेकिन इस क्रांति के लिए दोनों ही माओवादी पार्टियां उपयुक्त नहीं हैं। दोनों की ही विचारधारा में जो गंभीर भटकाव हैं वे इन्हें इस क्रांति की ओर बढ़ने नहीं देंगे। एकीकृत माओवादियों को जहां ये तेजी से पतन और पूंजीवादी व्यवस्था में समाहित होने की

ओर ले जा रहे हैं वहीं दूसरे धड़े को "वामपंथी" लफ्फाजी की निष्क्रियता, किंकर्तव्यविमूढ़ता तथा टूट-फूट की ओर। दोनों ही अतीत में की गई मूल विचारधारात्मक गलतियों के प्रक्षालन को तैयार नहीं है जिन्होंने उन्हें उनकी बहुप्रंशसित कार्यनीतिक लचीलेपन का बंदी बना दिया।

यदि ये दोनों पार्टियां इसी रास्ते पर चलती रहीं तो यह नेपाली क्रांति के लिए और भी बड़ी क्षति होगी क्योंकि तब एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण नये सिरे से करना पड़ेगा जो लम्बा और बेहद कठिन होगा। पिछली नेपाली क्रांति के जनवादी क्रांति तक सिमटने में जहां वस्तुगत परिस्थितियों की प्रमुख भूमिका थी वहीं इन पार्टियों के इस हश्र के लिए वे स्वयं जिम्मेदार होंगी (कहने की बात नहीं कि इन पार्टियों का नेतृत्व)। दिशा परिवर्तन के लिए इन पार्टियों के पास अभी भी कुछ वक्त बचा है पर यह ज्यादा नहीं है।

2. विधान सभा चुनावः पूंजीपति वर्ग और भारतीय जनतंत्र

नवंबर-दिसम्बर में हुए पांच विधान सभाओं के चुनावों ने भारतीय जनतंत्र में पूंजीपति वर्ग की बदलती भूमिका को तीक्ष्णता से रेखांकित किया। आने वाले समय में यह प्रवृत्ति और मुखर होगी।

अभी तक पूंजीपति वर्ग की चुनाव परिणामों को सीधे तौर पर प्रभावित करने की कोशिशें बहुत हलकी रही हैं साथ ही अप्रत्यक्ष भी। वह विभिन्न पूंजीवादी पार्टियों को अपनी प्राथमिकताओं के हिसाब से धन उपलब्ध कराता रहा है या ज्यादा सही-सही कहें तो पूंजीपति वर्ग के विभिन्न धड़े और व्यक्ति विभिन्न पार्टियों और उनके प्रत्याशियों को अपनी पसंद या उम्मीदों के हिसाब से धन देते रहे हैं। भारतीय जनतंत्र को वे चुनावों के बाद बनने वाली सरकार और उसके विभिन्न व्यक्तियों को भांति-भांति से प्रभावित करने के जरिये अपनी सेवा में लगाते रहे हैं। कहने की बात नहीं कि कुल मिलाकर ये सरकारें पूंजीपति वर्ग की ही सेवा में लगी होती थीं और उसके राज्य का संचालन करती थीं। लेकिन चुनावों में जन-आकांक्षाओं की बाध्यताओं को चलते सरकारों पर अतिरिक्त दबाव डालना जरूरी हो जाता था जिससे वे जन-आकांक्षाओं के सामने किसी हद तक झुक न जायें।

पिछले ढाई दशकों में पूंजीपति वर्ग के लिए इस मायने में स्थिति किसी हद तक दिक्कततलब हुई है, इसके बावजूद कि इसी काल में सरकारों ने समूची नीतियां इसके पक्ष में बदल डालीं। लेकिन यदि इन सालों में देश में एक पार्टी (कांग्रेस या भाजपा) की सरकार रही होती तो यह इसके लिए कहीं आसान रहा होता। जिस हद तक केन्द्र में गठबंधन सरकारें बनी हैं उस हद तक देश के बड़े एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग को पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों तथा जनता के दबावों का सामना करना पड़ा है।

इसकी सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति रही है इसके द्वारा बार-बार मांग करने के बावजूद पिछले पांच सालों में 'आर्थिक सुधारों' की धीमी प्रगति। 1991 से मिली लूट की छूट से पूंजीपति वर्ग संतुष्ट नहीं है। वह और छूटें चाहता है। लेकिन संप्रग सरकार इस मामले में लगातार हिचकती रही। इस ओर बढ़ने के बावजूद उसके कदम ठिठकते रहे हैं। अपने सहयोगी दलों के प्रतिरोध के साथ जन असंतोष के विस्फोटक हो उठने का भय उसके कदम रोकते रहे हैं। यह इस कदर है कि धनवानों की एक महफिल को संबोधित करते हुए पी. चिदंबरम भी स्पष्टीकरण देने लगते हैं कि 'इंक्लूसिव ग्रोथ' जरूरी है, यहां तक कि इन धनवानों और बदहाल जनता की जिन्दगी तथा उनकी आकांक्षाओं में विराट अंतर का चित्र भी खींच देते हैं।

देश का बड़ा एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग इस स्थिति से निकलना चाहता है। और इसके लिए उसने अब सीधे चुनावों के परिणामों को प्रभावित करने का फैसला किया है। नरेन्द्र मोदी और अरविन्द केजरीवाल एण्ड कम्पनी की बढ़त इसकी दो अभिव्यक्तियां हैं।

अपनी पार्टी के तमाम अन्य नेताओं के विरोध के बावजूद नरेन्द्र मोदी भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीद्वार घोषित किये गये तो केवल बड़े पूंजीपति वर्ग और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कारण ही। पिछले तीन सालों में इस पूंजीपति वर्ग ने नरेन्द्र मोदी के पक्ष में बाकायदा एक अभियान चलाया है। इसमें प्रमुखता उसके द्वारा नियंत्रित पूंजीवादी प्रचारतंत्र के अभियान की रही है। इसके द्वारा उसने मोदी की एक साफ-सुथरे 'विकास पुरुष' की छवि गढ़ने की कोशिश की है जो देश की वर्तमान हालत से उसे बाहर निकालकर 'विकास' के पथ पर अग्रसर कर देगा। भाजपा के अन्य नेताओं द्वारा नेतृत्व करने के दावों को किनारे लगाया गया। और अंततः संघ के सहयोग से नरेन्द्र मोदी को 'इंतजार वाले प्रधानमंत्री' के पद पर बैठा दिया गया। बूढ़े आडवाणी अपनी नाराजगी नहीं छिपा पाये पर केवल हाथ मल कर रह गये।

इसके बाद विधान सभा चुनावों के दौरान मोदी का हर संभव महिमामंडन किया गया। उनकी सभाओं का सीधा प्रसारण किया गया। यह विशेषाधिकार किसी अन्य भाजपा नेता को नहीं मिला। निष्पक्षता का ढोंग करने के लिए कभी-कभी राहुल गांधी या सोनिया गांधी की सभा को भी दिखाया गया।

चुनाव परिणामों पर पूंजीपति वर्ग की प्रतिक्रिया तो और भी स्पष्ट थी। भाजपा की जीत पर शेयर बाजार उछल गया और पूंजीपतियों के संगठनों ने बयान जारी कर यह स्पष्ट किया कि वे भविष्य में भी भाजपा की जीत के पक्षधर हैं। लेकिन यह साफ था कि वे भाजपा नहीं मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा की जीत के पक्षधर हैं। इसके जरिये उन्होंने कांग्रेस को भी संदेश दिया कि वे उससे नाराज हैं तथा उसे अपने-आप को मोदी की दिशा में बदलना होगा।

ठीक इसी समय केजरीवाल एण्ड कंपनी को भी प्रोत्साहित कर उन्होंने और भी कमाल का कारनामा किया। उन्होंने इसके जरिये कांग्रेस ही नहीं भाजपा को भी संदेश दिया कि वे और भी विकल्प खड़े कर सकते हैं।

केजरीवाल एण्ड कंपनी सीधे-सीधे साम्राज्यवादी और देशी पूंजीपतियों द्वारा ऊपर से खड़े किये गये लोग हैं। आम आदमी पार्टी कांग्रेस या भाजपा की तरह नीचे से उठी पार्टी नहीं है। पहले एक भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के तौर पर और अब आम आदमी की पार्टी के तौर पर यह ऊपर से खड़ी की गयी पार्टी है। इसमें प्रमुख भूमिका पूंजीपति वर्ग के पैसे तथा प्रचारतंत्र और उसकी दान-दाता संस्थाओं व प्रशिक्षण संस्थाओं की रही है। यह इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि आज पूंजीपति वर्ग कैसे न केवल कुछ समय के लिए एक आंदोलन बल्कि एक पार्टी भी खड़ी कर सकता है।

कहना नहीं होगा कि इसके लिए आज समाज में वस्तुगत आधार मौजूद है और वही इस प्रयोग का प्रमुख लक्ष्य भी है। दो-ढाई दशकों के निजीकरण-उदारीकरण से मजदूर वर्ग और छोटी सम्पत्ति वालों के जीवन में जो तबाही आयी है वह बड़े पैमाने के अंसतोष को जन्म दे रही है जो कभी भी विस्फोटक रूप ले सकता है। छिटपुट रूप में यह हो भी रहा है। इसलिए समय रहते इसकी रोक थाम जरूरी है। गैर सरकारी संगठनों का बड़े पैमाने पर जाल इसी का हिस्सा है। इनमें से कुछ को अब फर्जी आंदोलन खड़े करने की ओर लगाना पिछले दिनों अधिकाधिक बढ़ती प्रवृत्ति रही है। अब पूंजीपति वर्ग इससे भी आगे बढ़कर एक पार्टी ही खड़ी करने लगा है।

स्वभावतः ही पूंजीपति वर्ग द्वारा ऊपर से खड़ी की गयी पार्टी को भी जनतंत्र की मजबूरियों के साथ ताल-मेल बैठाना होगा। इसीलिए केजरीवाल एण्ड कंपनी ने चुनावों में भ्रष्टाचार के मुद्दे को पीछे रखकर बिजली-पानी जैसे बुनियादी मुद्दों को आगे किया और इस संबंध में आसमानी वादे किये। वक्त के साथ इनकी कलई खुल जायेगी, खासकर किसी प्रदेश में सरकार बना लेने की स्थिति में। लेकिन तब तक वे जन असंतोष को थाम सकते हैं।

इस तरह बड़े पूंजीपति वर्ग ने आगे आकर कांग्रेस पार्टी से बेहद नाराज जनता के सामने दो विकल्प प्रस्तुत किये हैंः देश के स्तर पर नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा और स्थानीय स्तर पर आम आदमी पार्टी। पूंजीवादी प्रचारतंत्र द्वारा अगले लोक सभा चुनावों तक इनके पक्ष में धुंआधार प्रचार जारी रहेगा।

अमेरिकी जनतंत्र में पूंजीपति वर्ग एक लम्बे समय से चुनावों को सीधे तौर पर प्रभावित करता रहा है। पार्टी उम्मीद्वारों के चुनाव से लेकर उनकी जीत-हार तक उसका सिक्का चलता रहा है। वहां मतदाता प्रत्यक्ष तौर पर छल नियोजित किये जाते रहे हैं।

इसके मुकाबले भारतीय जनतंत्र में तब भी चुनावों के परिणामों को जनता ज्यादा निर्धारित करती रही है। इससे परिणाम अक्सर अप्रत्याशित भी आते रहे हैं। पूंजीपति वर्ग की सेवा करने वाली पार्टियों और उनके नेताओं पर इस स्थिति का दबाव भी रहा है। पूंजीपति वर्ग की भाषा में यह 'चुनाव का भय', 'पापुलिज्म','वोट बैंक' इत्यादि का नाम पाता रहा है।

अब भारत का पूंजीपति वर्ग यह प्रयास कर रहा है कि चुनाव परिणाम इनसे स्वतंत्र होकर उसके हिसाब से आने लगें। तब पूंजीवादी पार्टियां और नेता जनदबाव से मुक्त हो जायेंगे। इसे वह अपने पैसे और अपने प्रचारतंत्र के माध्यम से अंजाम देना चाहता है। यदि इसमें पूंजीपति वर्ग कामयाब होता है तो भारत का पूंजीवादी जनतंत्र पहले से भी खोखला हो जायेगा तथा मजदूर-मेहनतकश जनता की जिंदगी की बदहाली और तेजी से बढ़ने लगेगी।

भारत के पूंजीवादी जनतंत्र के समग्र चरित्र के साथ इसकी वर्तमान गति का सर्वांगीण भंडाफोड़ जरूरी है।

■■■